सर्वोदय

सर्वोदय

रस्किन की विख्यात कृति
'अन्टू दिस लास्ट' का सार

●

मो. क. गांधी

●

GANDHI BOOK CENTRE
Bombay Sarvodaya Mandal
299 Tardeo Road, Nana Chowk,
Mumbai 400007 INDIA ✆: 2387 2061
email : info@mkgandhi.org
www.mkgandhi.org

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

ISBN 81-7309-047-3

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

एन–77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली–110001

फोन : 23310505, 41523565

शाखा : 126, जीरो रोड, इलाहाबाद–211003

फोन : 0532–2400034

•

संस्करण : **2011**

प्रतियां : **1100**

मूल्य : रु. 25.00

•

मुद्रक

सांई इन्टरप्राइजेज

नवीन शाहदरा, दिल्ली–32

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक वह कृति है जिसने गांधीजी पर 'जादू-भरा असर' डाला था। दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी एक बार जोहान्सबर्ग से नेटाल जा रहे थे। चौबीस घंटे का सफर था। उनके एक साथी ने रास्ते में पढ़ने के लिए उन्हें स्टेशन पर एक पुस्तक दी। इस पुस्तक के विषय में गांधीजी ने अपनी 'आत्म-कथा' में लिखा है, "इस पुस्तक को हाथ में लेकर मैं छोड़ ही न सका। उसने मुझे पकड़ लिया।...ट्रेन शाम को डरबन पहुंचनी थी। पहुंचने के बाद मुझे सारी रात नींद नहीं आई। पुस्तक में प्रकट किये हुए विचारों को अमल में लाने का इरादा किया।...मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मुझमें गहराई से भरी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रंथ-रत्न में देखा।" गांधीजी के जीवन की दिशा बदल गई।

उन्होंने पुस्तक का सार तैयार किया, जो 'सर्वोदय' के नाम से प्रकाशित हुआ।

वास्तव में यह पुस्तक अत्यन्त मूल्यवान है, कारण कि इसमें उन नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर गांधीजी राम-राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

इस पुस्तक की मांग बराबर होती रहती है। यह किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं है। यह सबके काम की है। यह जीवन का सही रास्ता दिखाती है और बताती है कि जो भी उस रास्ते पर चलेगा उसी का जीवन कृतार्थ होगा।

हमें पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक आगे भी चाव से पढ़ी जायगी और अधिक-से-अधिक पाठक इसका लाभ लेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

पश्चिम के देशों में साधारणतः यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख—उनका अभ्युदय—बढ़ाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवा नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दुःख पहुंचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं।

किंतु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है और केवल इतने ही के लिए यत्न करें और उसमें नैतिक नियमों को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगों में अंग्रेज विद्वान् स्वर्गीय जॉन रस्किन मुख्य थे। उन्होंने कला, चित्रकारी आदि विषयों पर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं। नीति के विषयों पर भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। उसमें से एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहां-जहां अंग्रेजी बोली जाती है वहां-वहां इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताए विचारों का जोरों से खंडन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमों के पालन में ही मनुष्य-जाति का कल्याण है।

आजकल भारत में हम पश्चिम वालों की बहुत नकल कर रहे हैं। कितनी ही बातों में हम इसकी जरूरत भी समझते हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम की बहुत-सी रीतियां खराब हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब हैं उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की अवस्था बहुत ही करुणाजनक है। हम धन के लिए विदेश जाते हैं। उसकी धुन में नीति को, ईश्वर को भूल जाते हैं। स्वार्थ में सन जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमें विदेश में रहने से लाभ के बदले उलटे बहुत हानि होती है अथवा विदेश-यात्रा का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलता। सभी धर्मों में नीति का अंश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धि से देखा जाय तो भी नीति का पालन आवश्यक है। जॉन रस्किन ने सिद्ध किया है कि सुख इसी में है। उन्होंने पश्चिमवालों की आंखें खोल दी हैं और आज यूरोप और अमरीका के भी कितने ही लोग उनकी शिक्षा के अनुसार चलते हैं। भारतीय जनता भी उनके विचारों से लाभ उठा सके, इस उद्देश्य से हमने उक्त पुस्तक का इस ढंग से सारांश देने का विचार किया है कि जिससे अंग्रेजी न जानने वाले भी उसे समझ लें।

सुकरात ने, मनुष्य को क्या करना उचित है, इसे संक्षेप में समझाया है। कह सकते हैं कि उसने जो कुछ कहा है, रस्किन ने उसी का विस्तार कर दिया है। रस्किन के विचार सुकरात के ही विचारों का विस्तृत रूप हैं। सुकरात के विचारों के अनुसार चलने की इच्छा रखने वालों को भिन्न-भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, रस्किन ने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तक का सार दे रहे हैं, उल्था नहीं कर रहे हैं। उल्था कर देने से संभव है कि बाइबिल आदि ग्रंथों के कितने ही दृष्टान्त पाठक न समझ पायें। हमने पुस्तक के नाम का भी उल्था नहीं किया है; क्योंकि उसका मतलब भी वही पा सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबिल पढ़ी है; परन्तु उसके लिखे जाने का उद्देश्य सबका कल्याण, सबका (केवल अधिकांश का नहीं) उदय, उत्कर्ष होने के कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

—मो० क० गांधी

अनुक्रम

प्रस्तावना	४
१. सचाई की जड़	७
२. दौलत की नस	२२
३. अदल इन्साफ	२७
४. सत्य क्या है ?	३३
५. सारांश	३६

सर्वोदय

१ / सचाई की जड़

मनुष्य कितनी ही भूल करता है, पर मनुष्यों की पारस्परिक भावना—स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किये बिना उन्हें एक प्रकार की मशीन मानकर उनके व्यवहार के गढ़ने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सचाई का आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गति में बाधा पहुंचाने वाली मानी जानी चाहिए; परन्तु लोभ और आगे बढ़ने की इच्छा सदा बनी रहने वाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को पैसा बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन-देन के रोजगार से आदमी अधिक-से-अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाए।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का जोर लेन-देन के नियम-जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती

थी। मनुष्य की भावना उसके अन्दर का बल है और लेन-देन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उस पर एक ओर से स्थायी शक्ति लग रही हो और दूसरी ओर से आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्ति का अन्दाजा लगायंगे, बाद को आकस्मिक का। दोनों का अन्दाजा मिल जाने पर हम उस वस्तु की गति का निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियां एक प्रकार की हैं; परन्तु मानव-व्यवहार में लेन-देन के स्थायी नियम की शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। भावना का असर दूसरे ही प्रकार का दूसरी ही तरह से पड़ता है, जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तुविशेष की गति पर पड़ने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़-बाकी के नियम से लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जांच-पड़ताल करने में लेन-देन, खरीद-बिक्री या मांग और उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्र के नियम गलत हैं, यह कहने का कोई कारण नहीं। यदि व्यायाम-शिक्षक यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थिपंजर नहीं है और फिर नियम बनाए तो उसके नियम ठीक भले ही हों; पर वे अस्थि-पंजर वाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होने पर भी भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। यदि कोई कसरतबाज कहे कि मनुष्य का मांस अलग कर उसकी गेंदें बनाई जा सकती हैं, उसे खींच-कर उसकी डोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहे कि उस

मांस में पुनः अस्थि-पंजर घुसा देने में क्या कठिनाई है, तो हम निस्संदेह उसे पागल कहेंगे; क्योंकि अस्थि-पंजर से मांस को अलग कर व्यायाम के नियम नहीं बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के नियम बनाये जायं तो वे उसके लिए बेकार हैं। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहार के नियमों के रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षक के ही ढंग पर चलते हैं। उनके हिसाब से मनुष्य, उसका शरीर, केवल कल है और इसी धारणा के अनुसार वे नियम बनाते हैं। वे जानते हैं कि उसमें जीव है, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते। इस प्रकार के नियम मनुष्य पर, जिसमें जीव—आत्मा—रूह की प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते हैं?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-जब हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे बेकार हैं। उस वक्त मालिक कुछ और सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखाने के लिए खूब माथा-पच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ एक ही ओर होता है, परन्तु इस समय में वे कुछ नहीं समझते। सच तो यह है कि एक-दूसरे का सांसारिक स्वार्थ—पैसे का—एक न होने पर भी एक-दूसरे का विरोधी होना या बने रहना जरूरी नहीं है। एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं। घर में माता और उसके बच्चे हैं। दोनों को भूख लगी है। खाने में दोनों के—माता और बच्चे के—स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। माता खाती है तो बच्चे भूखों मरते हैं और बच्चे खाते हैं तो मां भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चों में कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटी के टुकड़े को खुद नहीं खा डालती। ठीक यही बात

मनुष्य के परस्पर के सम्बन्ध के विषय में भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। हमें पशुओं की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही चाहिए। तब भी यह बात नियमरूप में नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्त्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलने में तो दोनों का स्वार्थ है, परन्तु नफे के बटवारे की दृष्टि से देखने पर यह हो सकता है कि जहां एक का लाभ हो वहां दूसरे की हानि हो। नौकर को इतनी कम तनखाह देने में कि वह सुस्त और निरुत्साह रहे मालिक का स्वार्थ नहीं सधता। इसी तरह कारखाना भलीभांति न चल सकता हो तो भी ऊंची तनखाह मांगना नौकर के स्वार्थ का साधक नहीं है। जब मालिक के पास अपनी मशीन की मरम्मत कराने को भी पैसे न हों तब नौकर का ऊंची तनखाह मांगना स्पष्टतः अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता; परन्तु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध यह तो हम प्रायः सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-

पथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का सम्बन्ध अवलंबित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें जरा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियों में रखता है। सार यह कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीर में रख सकें। कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकर ने निश्चित तनखाह में अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकों को देखकर निश्चित करता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतन्त्रता है। इसी को लेन-देन का नियम बनाने वाले अर्थशास्त्र कहते हैं और उनका कहना है कि इस तरह कम-से-कम दाम में अधिक-से-अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अन्त में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है।

विचार करने पर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन या कल होता और उसे चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था; परन्तु यहां तो नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों पर हड़ताल फेर देता है—उन्हें गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला

झोंककर अधिक-से-अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकती है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाए। नौकर और मालिक के बीच धन का नहीं, प्रीति का बन्धन होना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबाव के कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकर का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिए जायं तो हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूति रहित मालिक के नौकर की अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं, क्योंकि स्नेह और कृपा का बदला अनेक बार उल्टा ही मिलता है और नौकर सिर चढ़ जाता है; पर यह दलील ठीक नहीं है। जो नौकर स्नेह के बदले लापरवाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिक से द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिक के साथ जो नौकर बददयानती करता है वह अन्यायी मालिक का नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने से परिणाम अच्छा ही होता है। यहां हम सहानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मानकर ही उस पर विचार कर रहे हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए—यह बिलकुल जुदी बात है और यहां हम उस पर विचार नहीं कर रहे हैं। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के साधारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देख

चुके हैं, स्नेही सहानुभूति रूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नहीं, यह एक भिन्न प्रकार की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के अन्यान्य नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटे का तौल का हिसाब रक्खे और बदला मिलने की आशा से ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए; बदला तो बिना मांगे अपने आप ही मिल जाता है। कहते हैं जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायक का उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टांत मिलते हैं कि जिस सेना का सरदार अपने सिपाहियों से घनिष्ठता रखता है, उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुःख में शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है—सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहां सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे वहां युद्ध में कहीं-कहीं ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरों के दल में भी पाई जाती है। डाकुओं का दल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह रखता है; लेकिन मिल आदि कारखानों के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह की घनिष्ठता नहीं दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखाने में मजदूरों की

तनखाह का आधार लेन-देन के, मांग और प्राप्ति के नियमों पर रहता है; इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूति की जगह उनके संबन्ध में विरोध, प्रतिद्वंद्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में हमें दो प्रश्नों पर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांग का और प्राप्ति का विचार किए बिना नौकरों की तनखाह किस हद तक स्थिर की जा सकती है ?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक-नौकरों का या सेनापति और सिपाहियों का स्थायी सम्बन्ध होता है, उसी तरह कारखानों में बराबर कैसा ही समय आने पर भी नौकरी की नियत संख्या, कमी-बेशी किए बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्न पर विचार करें। आश्चर्य की बात है कि अर्थ-शास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखाने के मजदूरों की तनखाह की एक दर निश्चित हो जाए। फिर भी हम देखते हैं कि इंग्लैंड के प्रधानमंत्री का पद बोली बुलवाकर बेचा नहीं जाता। उस पद पर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (विशप) के पद पर नहीं बैठाते। डाक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणतः इस तरह का सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उदाहरण में हम बंधी उजरत ही देते हैं। इस पर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूर की उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तव में होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सकों और वकीलों की फीस एक ही होने से अच्छे वकील-डाक्टरों के ही पास जाते हैं उसी तरह

सब मजदूरों की मजदूरी एक ही होने पर हमलोग अच्छे राज और बढ़ई से ही काम लेना पसन्द करेंगे। अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसन्द किया जाए। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहां अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिक को धोखा दे सकता है वहां अन्त में बुरा ही परिणाम होता है।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करें। वह यह है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, कारखाने में जितने आदमियों को आरम्भ में रक्खा हो उतने को सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियों को अनिश्चित रूप से काम मिलता है तब उन्हें ऊंची तनखाह मांगनी ही पड़ती है; किंतु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाए कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाह में काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियों को स्थायी रूप से नौकर रखता है उसे अन्त में लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते हैं उन्हें भी लाभ होता है। ऐसे कारखानों में ज़्यादा नफा नहीं हो सकता। वे कोई बड़ी जोखिम नहीं ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। सिपाही सेनापति की खातिर मरने को तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरी के पेशे से ज्यादा इज्जत की चीज मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाही का काम कत्ल का नहीं; बल्कि दूसरों की रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरी के सम्बन्ध में भी मानते हैं; इसलिए उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्य को अनेक संकट सहकर भी अपने रोगी का उपचार करना उचित है। और पादरी

धर्मोपदेशक को चाहिए कि उस पर कुछ भी क्यों न बीते; पर अपने समुदाय वालों को ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता ? आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्य का सम्बन्ध मान लेने का क्या कारण है ? विचार करने से दिखाई देता है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है; पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहां तक हो सके अधिक मांगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बेईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना—धन—ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्यों में—

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है;
धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है;
चिकित्सक का, उसे स्वस्थ रखना है;
वकील का उसमें न्याय का प्रचार करना है;
और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगों का कर्त्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्—

पैर पीछे हटाने के बदले सिपाही को अपनी जगह पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार हो जाए तो भी चिकित्सक को वहां मौजूद रहकर रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

सत्य की शिक्षा देने में लोग मार डालें तो भी मरते दम तक धर्मोपदेशक को झूठ के बदले सत्य ही की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वकील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशे वालों के लिए मरने का उपर्युक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है वह जीना किसे कहते हैं—यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनखाह लेना नहीं, बल्कि उपदेश देना है उसी तरह व्यापारी का नफा कमाना नहीं, बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोटी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाते हैं, पर दोनों में से एक का भी काम तनखाह या नफे पर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊंचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काम में जो सैकड़ों

या हजारों आदमी उसके मातहत हों उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करने के लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरों की तरह व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उस पर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाए, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करने वालों के साथ अत्यन्त स्नेह का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारों में जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमें से कितनों को अक्सर घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिक को ही उनके मां-बाप बनना होता है। मालिक इस विषय में लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मां-बाप के हो जाते हैं। इसलिए पद-पद पर व्यापारी या मालिक को अपने आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि "मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूं वैसा ही बरताव नौकरों के साथ भी करता हूं या नहीं ?"

जहाज के कप्तान के नीचे जो खलासी होते हैं उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़कों के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारी के यहां अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरों के साथ भी उसे करना होगा। इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटों में

व्यापारी का कर्त्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करे। इस प्रकार के विचार संभव हैं कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परन्तु ऐसा मालूम होना ही इस जमाने की विशेष नवीनता है; क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते हैं कि सच्ची नीति तो वह हो सकती है जो अभी बतलाई गयी है। जिस समाज को ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती। अंग्रेज जाति आज तक कायम है तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्र के नियमों का अनुसरण किया है; बल्कि यह है कि थोड़े-से लोगों ने उन नियमों को भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमों का पालन किया है। इसी से यह नीति अब तक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमों का भंग करने से कैसी हानियां होती हैं और किस तरह समाज को पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाई के मूल के सम्बन्ध में पहले ही कह चुके हैं। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परन्तु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है? यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाये गए हैं। जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है। इसके विरुद्ध दलीलें उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं; पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ है या नहीं। 'धनवान' शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जान पाते कि जहां धनवान होंगे वहां गरीब भी होंगे। कितनी ही बार वे भूल से यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार चलने से सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिए तो यह मामला कुएं के रहट–जैसा है। एक के खाली होने पर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उस पर चलता है जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पास वाले आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपके पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहां गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है—ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए—ये लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने वाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरों को उसकी तंगी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करने वाला यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरह के कितने रुपये मिलेंगे, अपने को

उतना ही पैसे वाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयों का मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रुपयों का संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमी के पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है ऐसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी; परन्तु यदि उसके पड़ोसियों से किसी को सोना-चांदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अतः उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सोने का मूल्य उसके खेत के पीले कंकड़ों से अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जाएगा, क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चांदी एकत्र करना पसन्द न करेंगे। गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आराम के लिए नौकर, व्यापार या कारीगर की मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेने की इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहां अधिक मजदूरी मिलेगी वहां जायगा। निचोड़ यह निकला कि धनवान होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जायं, यह तो हो

नहीं सकता; परन्तु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दुःखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

२ / दौलत की नसें

इस प्रकार किसी विशेष राष्ट्र में रुपये-पैसे का चक्कर शरीर में रक्त-संचार के समान है। तेजी के साथ रक्त का संचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायाम का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वर का। शरीर पर एक प्रकार की लाली स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकार की रक्तपित्त रोग का चिह्न है। फिर एक स्थान में खून का जमा हो जाना जिस तरह शरीर को हानि पहुंचाता है उसी तरह एक स्थान में धन का संचित होना भी राष्ट्र की हानि का कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि जहाज के टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाने से दो खलासी एक निर्जन किनारे पर आ पड़े हैं। वहां उन्हें खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते हैं। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहें तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयार कर खेती कर सकते हैं और भविष्य के लिए कुछ बचा भी सकते हैं। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते हैं और यदि दोनों अच्छी तरह काम करें तो उसमें दोनों का हिस्सा बराबर माना जावेगा। इस तरह इन पर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हें अपने परिश्रम का फल बांटने का अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनों बाद इनमें से एक आदमी को असंतोष हुआ, इसलिए उन्होंने खेत बांट लिए और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे।

फिर मान लीजिए कि कभी ऐन मौके पर एक आदमी बीमार पड़ गया। ऐसी दशा में वह स्वभावतः दूसरे को मदद के लिए बुलाएगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मैं तुम्हारा इतना काम करने को तैयार हूं; पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पड़े तो तुम्हें भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हें यह लिख देना होगा कि तुम्हारे खेत में मैं जितने घंटे काम करूंगा उतने ही घंटे, जरूरत पड़ने पर, तुम मेरे खेत में काम कर दोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमार की बीमारी लंबी चली और हर बार उसे उस आदमी को उसी तरह का इकरारनामा लिखकर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनों की स्थिति क्या होगी? हम देखेंगे कि दोनों ही पहले से गरीब हो गए हैं; क्योंकि बीमार आदमी जबतक खाट पर पड़ा रहा तबतक उसे अपने काम का लाभ नहीं मिला। यदि हम मान लें कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमार के खेत में लगाया उतना अपने खेत में लगाने से वंचित रहना पड़ा। फल यह हुआ कि जितनी संपत्ति दोनों की मिल-कर होनी चाहिए थी उसमें कमी हो गई।

इतना ही नहीं, दोनों का सम्बन्ध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमी का कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देने के बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिए कि उस चंगे आदमी ने बीमार आदमी से लिखाए हुए इकरारनामे का उपयोग करने का निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूप से विश्राम ले सकता है—आलसी बन सकता है। वह चाहे तो बीमारी से उठे हुए आदमी से दूसरे इकरारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि इसमें कोई बेकायदा

बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहां आए तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐशो-आराम करता है, आलस्य में दिन बिताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्ट से निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरण से पाठक देख सकेंगे कि दूसरे से काम लेने के हक का फल यह होता है कि वास्तविक संपत्ति घट जाती है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियों ने मिलकर एक राज्य की स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हरेक ने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सबको काम आ सके। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी सबका समय बचाने के लिए एक का माल दूसरे के पास पहुंचाने का जिम्मा ले लेता है और इसके बदले में अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौर से माल लाए व ले जाए तो सबको लाभ होगा। पर मान लीजिए कि यह आदमी माल ले जाने में चोरी करता है और बाद को सख्त जरूरत के समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महंगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानों को भिखारी बना देता है और अन्त में अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपर के दृष्टांत में स्पष्ट अन्याय है; पर आज के व्यापारियों का यही हाल है। हम यह भी देख सकेंगे कि इस चोरी की कार्रवाई के बाद तीनों आदमियों की संपत्ति इकट्ठी करने पर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमी के ईमानदार बने रहने पर होती। दोनों किसानों का काम कम हुआ। आवश्यक चीजें न मिलने से अपने परिश्रम का पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलाल के हाथ चोरी का जो माल लगा उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नहीं हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणित का-सा स्पष्ट हिसाब लगाकर

राष्ट्र विशेष की संपत्ति की जांच कर सकते हैं। उस संपत्ति की प्राप्ति के साधनों पर उसे धनवान मानने या न मानने का आधार है। किसी राष्ट्र के पास इतने पैसे हैं, इसलिए वह इतना धनवान है यह नहीं कहा जा सकता। किसी आदमी के पास धन का होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलता का लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेब का सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमें इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है। दूसरा ऐसा होता है कि एक आदमी के हाथ में आते हुए दस गुने धन का नाश कर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह? आग लगने पर लकड़ियां जल जाने से जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकंप के कारण धराशायी हो जाने वाले मकानों की ईंटें सस्ती हो सकती हैं; किंतु इससे कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकंप की दुर्घटनाएं जनता के लाभ के लिए हुई थीं। इसी तरह 'महंगा-से-महंगा बेचना' भी ठीक है, पर महंगी हुई कैसे? आज आपको रोटी के अच्छे दाम मिले। पर क्या आपने दाम किसी मरणासन्न मनुष्य की अंतिम कौड़ियां लेकर खड़े किए हैं? या आपने वे रोटियां किसी ऐसे महाजन को दी हैं जो कल आपका सर्वस्व हड़प लेगा? या किसी ऐसे सिपाही को दीं जो आपके बैंक पर धावा बोलने वाला है? संभव है कि इनमें से एक भी प्रश्न का

उत्तर आप अभी न दे सकें, क्योंकि आपको इनका ज्ञान नहीं है; पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्य पर, नीतिपूर्वक बेची है या नहीं यह आप बतला सकते हैं। ठीक न्याय होने की ही चिंता रखना आवश्यक भी है। आपके काम से किसी को दुःख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है।

हम देख चुके कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके तो पैसे की जरूरत नहीं रहती। पैसे बिना भी लोगों की मेहनत मिल सकती है; इसके उदाहरण मिलते हैं और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके हैं कि धन-बल से नीति-बल अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां धन काम नहीं देता वहां सद्गुण काम देता है। इंग्लैंड में अनेक स्थानों में लोग धन से भुलावे में नहीं डाले जा सकते।

यदि हम मान लें कि आदमियों से काम लेने की शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिमाण में चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिमाण में दौलत बढ़ेगी। इस तरह विचार करने पर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चांदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के भीतर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन, मन और मान से स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैंड गोलकुंडा के हीरों से गुलामों को सजाकर अपने वैभव का प्रदर्शन करने के बदले, यूनान के एक सुप्रसिद्ध मनुष्य के कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषों को दिखाकर कहे कि—"यह मेरा धन है।"

३ / अदल इंसाफ़

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहले एक यहूदी व्यापारी हो गया है। उसका नाम सोलोमन था। उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाए थे। उसकी कहावतों का आज भी यूरोप में प्रचार है। वेनिस के लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उसकी मूर्ति स्थापित की। उसकी कहावतें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परन्तु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उनके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोल-कर पैसा कमाते हैं वे घमंडी हैं और यही उनकी मौत की निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता। सत्य मौत से बचाता है।" इन दोनों कहावतों में सोलोमन ने बतलाया है कि अन्याय से पैदा किये हुए धन का परिणाम मृत्यु है। इस जमाने में इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणतः हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते। जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालने वाले लेबिल लगाना, इत्यादि।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दुःख देता है, वह अंत में दर-दर भीख मांगेगा।" इसके बाद कहता है, "गरीबों को न सताओ, क्योंकि वे गरीब हैं। व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो, क्योंकि जो गरीब को सताएगा खुदा उसे सताएगा।" लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई संकट में पड़ जाता है तो हम उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदार के यहां डाका डालते हैं, परंतु व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनों समान हैं। खुदा उनको उत्पन्न करने वाला है। खुदा उन्हें ज्ञान देता है।" अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता। एक से दूसरे का काम सदा ही पड़ता रहता है, इसलिए कोई किसी को ऊंचा या नीचा नहीं कह सकता। परन्तु जब ये दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देने वाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है। इसी तरह धन को भी जहां आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए; परंतु जैसे नदी की गति बदल सकती है वैसे ही धन की गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत-सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बांध बांधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है। इसी तरह धन का मनमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह कि वह धन विष-तुल्य हो जाता है; पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बांधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है; परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक ज़माना ऐसा था जब यूरोप में धनिक को विष देकर लोग उसके धन से स्वयं धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य-पदार्थ तैयार किए जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट

कर देते हैं। जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में चीकरी, मक्खन में चरबी इत्यादि। यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-संगत और न्याय-युक्त उपायों से धनवान होने का है। पर इस ज़माने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज़ होते हुए भी न्यायबुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिए। केवल लेन-देन के व्यावसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है। यह तो मछलियां, भेड़िये और चूहे भी करते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जंतुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी तक को खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नहीं है; परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर, उन्हें ठगकर, उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्था में अब हमें देखना है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूर का उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे

उसकी मेहनत का कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमी को एक मजदूर की आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी मांगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियों को मजदूरी की आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंहमांगी उजरत मिल जाएगी और यह प्रायः जितनी होनी चाहिए उससे अधिक ही होगी। इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी कही जाएगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधि के बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को उतना ही नहीं, बल्कि ब्याज के तौर पर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घंटा पांच मिनट या इससे अधिक काम कर देने का वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मजदूर आएं और उनमें से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊं तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूं उसे पूरी मजदूरी दूं तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा, फिर भी जिसे मैं काम में लगाऊंगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जाएगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगों के भूखों मरने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम मजदूरी दी जाती है। मैं मजदूरी

दूं तो मेरे पास व्यर्थ का धन इकट्ठा न होगा, मैं भोग-विलास में रुपया खर्च न करूंगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी। जिसे मैं उचित दाम दूंगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्याय का सोता सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जाएगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फूले-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता हैं और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढ़ा-ऊपरी) से अन्त में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे; क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसी-लिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहां दर्जे के अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देने वाला कभी तनखाह लेने की बात नहीं कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल-सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है। और इसीलिए प्रायः ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल

रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊं, मजदूर चाहता है कि मैं ठग लूं और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से कमा लूं! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी का जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं, ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अन्त में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दुःख भोगते और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वह अन्त में दुःख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है—

इसलिए ज्ञानियों ने कह रखा है—

"जहां धन ही परमेश्वर है, वहां सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।"

अंग्रेज मुंह से तो कहते हैं कि धन और ईश्वर में परस्पर विरोध है, गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार में वे धन को सर्वोच्च पद देते हैं। अपने धनी आदमियों की गिनती करके अपने को सुखी मानते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते हैं जिन्हें सीखकर लोग धनवान हो जायं। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय—जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं, 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' के समान हैं। लोगों को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

४ / सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणों में हम देख चुके कि अर्थशास्त्रियों के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन नियमों के अनुसार आचरण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों दुःखी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसे वाले के पास अधिक पैसा जमा होता है; फिर भी दोनों में से एक भी सुखी होता या रहता नहीं।

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनता के सुख का आधार केवल धन को बताते हैं। इसीलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदि की वृद्धि से जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरह के विचारों के प्रचार के कारण इंग्लैण्ड और दूसरे देशों में कारखाने बढ़ गए हैं। बहुत-से आदमी शहरों में जमा होते हैं और खेती-बाड़ी छोड़ देते हैं। बाहर की सुंदर स्वच्छ वायु को छोड़कर कारखानों की गंदी हवा में रात-दिन सांस लेने में सुख मानते हैं। इसके फलस्वरूप जनता कमजोर होती जा रही है, लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीति को दूर करने की बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलाने वाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियों को एकदम ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि गरीबों की अनीति का कारण धनवान हैं। उनके भोग-विलास का सामान जुटाने के लिए गरीब रात-दिन मजदूरी करते हैं, उन्हें कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करने के लिए एक पल भी नहीं मिलता। धनिकों को देखकर वे भी धनी होना चाहते हैं।

धनी न हो पाने पर खिन्न होते हैं, झुंझलाते हैं। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्ते से धन न मिलता देख दगा-फरेब से पैसा कमाने का वृथा प्रयास करते हैं। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलाने में उनका उपयोग होता है।

वास्तव में सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानव-जाति का भरण-पोषण हो। भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टि से विचार करने से बड़े बड़े आयोजन बेकार माने जाएंगे। संभव है कि कल-कारखाने खोलकर धनवान होने का मार्ग ग्रहण करना पाप-कर्म मालूम हो। पैसा पैदा करने वाले बहुतेरे मिलते हैं; पर उसका यथा-विधि उपयोग करने वाले कम पाये जाते हैं। जिस धन को पैदा करने में जनता तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामों के कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखाई देता है।

लोग यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरों को सुधारना, ज्ञान देना असंभव है; इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहने वाले स्वयं नीति का पालन नहीं करते; क्योंकि जो आदमी नीति का पालन करता है और लोभ में नहीं पड़ता, वह पहले तो अपने मन को स्थिर रखता है, वह स्वयं सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और अपने कार्य से दूसरों पर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वयं जबतक नैतिक नियमों का पालन न करें तबतक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है? हम खुद तो

मनमाना आचरण करें और पड़ोसी की अनीति के कारण उसके दोष निकालें तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है?

इस प्रकार विचार करने से हम देख सकते हैं कि धन साधन-मात्र है और उससे सुख तथा दुःख दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके संतोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनाने वाला राष्ट्र और जिस पर इनका प्रयोग होता है वे दोनों हानि उठाते और दुःख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धन संपन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हरेक आदमी को जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरण में हम देख चुके हैं कि जहां एक आदमी आलसी रहता है वहां दूसरे को दूनी मेहनत करनी पड़ती है। इंग्लैंड में जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जाने पर कोई उपयोगी काम नहीं करते, अतः उनके लिए दूसरे आदमियों को परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम उपयोगी न होने के कारण काम करने वाले का इसमें लाभ नहीं होता। ऐसा होने से राष्ट्र की पूंजी घट जाती है। इसलिए ऊपर से यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगों को काम मिल रहा है, परन्तु भीतर से जांच करने पर मालूम होता है कि अनेक आदमियों को बेकार बैठना पड़ रहा है। पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असंतोष की जड़ जमती है और अन्त में मालदार-

गरीब, मालिक-मजदूर दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते हैं। जिस तरह बिल्ली और चूहे में सदा अनबन रहती है, उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर में दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशु की अवस्था में पहुंच जाता है।

५ / सारांश

महान् रस्किन के लेखों का खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकों को नीरस मालूम होंगे, तथापि जिन्होंने इन्हें एक बार पढ़ लिया हो उनसे हम फिर पढ़ने की सिफ़ारिश करते हैं। 'इंडियन ओपीनियन'[1] के सब पाठकों से यह आशा रखना कि वे इन पर विचार कर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बड़ी अभिलाषा कही जाय। पर यदि थोड़े पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सार को ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किन के अंतिम परिच्छेद के अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसी में फल का समावेश हो जाता है। इसलिए हमें तो सदा ही संतोष मानना उचित है।

रस्किन ने जो बातें अपने भाइयों—अंग्रेजों – के लिए लिखी हैं वे अंग्रेजों के लिए यदि एक हिस्सा लागू होती हैं तो भारत-वासियों के लिए हजार हिस्से लागू होती हैं। हिन्दुस्तान में नए

[1]इस नाम का गुजराती-अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजी ने दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय डरबन से निकाला था। अब भी यह निकल रहा है।

विचार फैल रहे हैं। आजकल के पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवकों में जोश आया है, यह तो ठीक है; पर जोश का अच्छा उपयोग होने से अच्छा, और बुरा होने पर बुरा परिणाम होता है। एक ओर से यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओर से यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजी-के साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हों; नेटाल में स्वराज है; पर हम कहते हैं कि नेटाल में जो हो रहा है हम भी वही करना चाहते हों तो ऐसा स्वराज नरक-राज है। नेटाल वाले काफिरों को कुचलते हैं, भारतीयों के प्राण हरण करते हैं। स्वार्थ में अंधे होकर स्वार्थराज भोग रहे हैं। यदि काफिर और भारतीय नेटाल से चले जाएं तो वे आपस ही में कट मरें।

तब क्या हम ट्रांसवाल-जैसा स्वराज प्राप्त करेंगे? जनरल स्मट्स उसके नायकों में से एक हैं। वह अपने लिखित या जबानी दिये हुए वचनों का पालन नहीं करते। कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। अंग्रेज उनसे ऊब उठे हैं। रुपया बचाने के बहाने उन्होंने अंग्रेज सैनिकों की लगी रोजी छीनकर उनके स्थान में डच लोगों को रखा है। हम नहीं मानते कि इससे अंत में डच भी सुखी होंगे। जो लोग स्वार्थ पर दृष्टि रखते हैं वे पराई जनता को लूटने के बाद अपनी जनता को लूटने के लिए सहज ही तैयार हो जायंगे।

संसार के समस्त भागों पर दृष्टि डालने से हम देख सकते हैं कि जो राज स्वराज के नाम से पुकारा जाता है वह जनता की उन्नति और सुख के लिए पर्याप्त नहीं है। एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानी से इस बात को देख सकते हैं। लुटेरों के दल में स्वराज हो जाने से क्या फल होगा, यह सभी जान सकते हैं। उन पर किसी ऐसे मनुष्य का अधिकार हो जो स्वयं लुटेरा न हो तभी वे अंत में सुखी हो सकते हैं। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड

सभी बड़े-बड़े राज्य हैं, पर यह मानने के लिए कोई आधार नहीं कि वे सचमुच सुखी हैं।

स्वराज का वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर काबू रख सकना। यह वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीति का पालन करता है, दूसरों को धोखा नहीं देता, माता-पिता, स्त्री-बच्चे, नौकर-चाकर, पड़ोसी सबके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है। ऐसा मनुष्य चाहे जिस देश में हो, फिर भी स्वराज भोग रहा है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक हो, उसे स्वराज मिला हुआ ही समझना चाहिए।

एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शासन करना साधारणत: बुरा कहा जा सकता है। अंग्रेजों का हम पर राज करना एक उल्टी बात है, परन्तु यदि अंग्रेज भारत से कूच कर जाएं तो मानना चाहिए कि भारतीयों ने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया। वे हम पर राज्य करते हैं, इसका कारण खुद हम ही हैं। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये तीन बातें दूर हो जाएं तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारत से चले जाएंगे। यही नहीं, हम भी सच्चे स्वराज को भोग सकते हैं।

बमवाजी से बहुत-से लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और नासमझी की निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारने वाले ही भारत के मालिक बनेंगे। अर्थात् भारत दास ही रहेगा। अंग्रेजों का नाश करने वाले बम अंग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों पर बरसेंगे। फ्रांस के प्रजातंत्र के अध्यक्ष—राष्ट्रपति—को मारने वाला फ्रेंच ही था। अमरीका के राष्ट्रपति क्लीवलैंड को मारने वाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमें उचित है कि हमलोग उतावली

करके विना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रों का अंधानुकरण कदापि न करें।

जिस तरह पाप-कर्म से अंग्रेजों को मारकर सच्चा स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारत में कारखाने खोलने से भी स्वराज नहीं मिलने का। रस्किन ने इस बात को पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चांदी एकत्र हो जाने से कुछ राज्य नहीं मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिए तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णसंकर-सी होती दिखाई देने लगी है। हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोप की-सी अवस्था भारत की कदापि न हो। यूरोप के राष्ट्र एक-दूसरे पर घात लगाए बैठे हैं। केवल अपनी तैयारी में लगे होने के कारण सब शांत हैं। किसी समय जब जोरों की आग लगेगी तब यूरोप में नरक ही दिखाई देगा। यूरोप का प्रत्येक राज्य काले आदमियों को अपना भक्ष्य मान बैठा है। जहां केवल धन का ही लोभ है वहां कुछ और हो ही कैसे सकता है? उन्हें यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उस पर टूट पड़ते हैं जिस तरह चील और कौवे मांस पर टूटते हैं। इस प्रकार सब उनके कारखानों के ही कारण होता है, यह मानने के लिए हमारे पास कारण हैं।

अंत में भारत को स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियों की पुकार है और यह उचित ही है; परन्तु स्वराज हमें नीति-मार्ग से प्राप्त करना है। वह नाम का नहीं, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायों से नहीं मिल सकता। उद्योग की आवश्यकता है; पर उद्योग सच्चे रास्ते से होना चाहिए। भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी; इसलिए कि भारतवासी स्वर्ण रूप-से थे। भूमि तो वही है; पर

आदमी बदल गए हैं, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुनः सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्‌गुणों द्वारा स्वर्ण रूप बनना है। हमें स्वर्ण बनाने वाला पारसमणि दो अक्षरों में अन्तर्निहित है और वह है 'सत्य'। इसलिए यदि प्रत्येक भारत-वासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारत को घर बैठे स्वराज मिल जायगा।

●

'मण्डल' द्वारा प्रकाशित

गांधी-साहित्य

□

- आत्म-कथा (सम्पूर्ण)
- आत्म-कथा (संक्षिप्त)
- गीता-माता
- अनासक्ति योग
- गीता की महिमा
- गीता-बोध
- बापू की सीख
- ग्राम-सेवा
- गांधीजी ने कहा था
- स्वराज्य का अर्थ
- गांधी शिक्षा (तीन भाग)
- मंगल प्रभात
- सर्वोदय

□□

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

सस्ता साहित्य मण्डल

ISBN 81-7309-047-3